सांस्कृतिक सुरक्षाकी उपादेयता[1]

देव-आगम-गुरु वन्दना पुरःसर

भो विद्वद्वृन्द ! और समादरणीय उपस्थित जन-समूह !

आज मुझे इस बातका अत्यन्त संकोच हो रहा है कि भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाका मुझे अध्यक्ष बना दिया गया है। मेरे इस संकोचका कारण यह है कि एक तो शास्त्र-मर्मज्ञ, कार्यकुशल और समाजमें ख्याति प्राप्त बड़े-बड़े विद्वान् विद्वत्परिषद्में सम्मिलित हैं, दूसरे इसके सामने आज जो समस्यायें हल करनेके लिये उपस्थित हैं उन्हें देखते हुए जब मैं गहराईके साथ सोचता हूँ तो ऐसा लगता है कि इन समस्याओंको हल करनेकी अल्पतम क्षमता भी मेरे अन्दर नहीं है। लेकिन आपकी आज्ञाको शिरोधार्य कर मैं उन समस्याओंको आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। उन पर हमें व आपको गम्भीरताके साथ मंथन करना है।

प्रथम समस्या : सांस्कृतिकताकी रक्षा करें

विश्वके प्रांगणमें आप देखनेका प्रयत्न करेंगे तो वहाँ प्रत्येक स्थल पर आपको किसी-न-किसी संस्कृतिके दर्शन अवश्य होंगे। हमारा भारतवर्ष तो अत्यन्त प्राचीनतम कालसे ही विविध संस्कृतियोंकी जन्म-भूमि रहा है और आज भी यहाँपर अनेक संस्कृतियां विद्यमान हैं।

आप जब उनपर दृष्टिपात करेंगे तो आपको उनके दो पहलू देखनेको मिलेंगे। एक पहलू तो उस संस्कृतिके विशिष्ट तत्त्वज्ञानका होगा और दूसरा पहलू मानवप्राणियोंके जीवन-निर्माणके लिये उनके द्वारा निश्चित की गई आचारपद्धतिका होगा।

सम्पूर्ण मानव-समष्टिमें सांस्कृतिक आधारको लेकर जितने समाज पाये जाते हैं उन सब समाजोंमेंसे जिस समाजका ढांचा जिस संस्कृतिके आधारपर निर्मित हुआ है उस समाजके प्रत्येक व्यक्तिका स्वाभाविकरूप से यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपनी संस्कृतिके तत्त्वज्ञानके प्रति दृढ़तम आस्था रखे तथा उसमें उपदिष्ट आचारपद्धतिके आधारपर यथाशक्ति अपनी जीवन-प्रवृत्तियोंके निर्माण करनेका प्रयत्न करे। यह तभी हो सकता है जब व्यक्तिको उस संस्कृतिके तत्त्वज्ञानका और आचार-पद्धतिका उपयोगी ज्ञान हो।

सर्वसाधारणके लिये तत्त्वज्ञानका और आचार-पद्धतिका उपदेष्टा उस संस्कृतिके रहस्योंका ज्ञाता और व्याख्याता विद्वान ही होता है। अतः कोई भी व्यक्ति अपनी संस्कृतिके तत्त्वज्ञानके प्रति अन्तःकरणमें समापन्न आस्थासे चलायमान न हो जावे तथा उसमें उपदिष्ट आचार-पद्धतिकी उपेक्षा करके अपने जीवनको उच्छृंखल न बना ले, इसका उत्तरदायित्व उस-उस संस्कृतिके मर्मको जाननेवाले विद्वानोंपर ही स्वाभाविकरूपसे आकर पड़ता है, यह बात हम सभी विद्वानोंको अच्छी तरह समझ लेना है।

जैनसंस्कृतिका मूलभूत उद्देश्य जड़ पदार्थोंके साथ बद्ध रहनेके कारण परतंत्र हुये संसारी आत्माको उन जड़ पदार्थोंसे मुक्त यानी स्वतंत्र बनानेका है, लेकिन किसी भी संसारी प्राणीको जबतक आत्मस्वातंत्र्य प्राप्तिके साधन प्राप्त न हो जावें, तथा साधनोंके प्राप्त हो जानेपर भी वह प्राणी जबतक अपनी जीवनप्रवृत्तियों-को आत्म-स्वातंत्र्य प्राप्तिकी दिशामें मोड़ न दे दे, तबतक उसे अपना लक्ष्य जीवनको सही ढंगसे सुख-पूर्वक व्यतीत करनेका बनाना चाहिये।

---

१. सन् १९६५ में सिवनी (म० प्र०) में आयोजित भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्के दशम अधिवेशनके अध्यक्ष पदसे दिया गया अभिभाषण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवनको सुखपूर्वक व्यतीत करनेका सही ढंग क्या हो सकता है ? इस प्रश्नका समाधान यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यको जब तक अन्य मनुष्यका आवश्यक सहयोग प्राप्त नहीं होगा तबतक उसे अपने जीवनका संचालन करना दुःसाध्य ही रहेगा। यह बात प्रत्येक व्यक्ति अच्छी तरह समझता है कि उसके जीवनकी जितनी आवश्यकतायें हैं या हो सकती हैं, उनकी पूर्तिमें उसे अन्य मनुष्योंका सहयोग अनिवार्यरूपसे अपेक्षित होता है। ग्राहकको अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए दुकानदार चाहिये और दुकानदारको अपनी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये ग्राहक चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंकी व्यवस्था हमें मानवजीवनकी पर-सहयोग-निर्भरताकी सूचना दे रही है। जैन-संस्कृतिमें तो प्रत्येक प्राणीके जीवन-यापनके लिये पंचेन्द्रिय मनुष्यसे लेकर एकेन्द्रिय प्राणि तकके सहयोगकी भूमिका प्रतिपादित की गई है। आचार्य उमास्वातिका "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" सूत्रवाक्य हमारे समक्ष इसी रहस्यका उद्घाटन कर रहा है।

एक मानवके जीवनमें दूसरे मानवके सहयोगकी अपेक्षा होना ऐसा कारण है, जिसके आधारपर लोकमें मानव-जीवनको सुखी और सुन्दरतम बनानेके लिये कौटुम्बीय, नागरीय और राष्ट्रीय संगठनोंको स्थान प्राप्त हो गया है और आज तो उक्त उद्देश्यकी पूर्तिके लिये प्रत्येक समझदार व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्रोंके एक संगठनको भी महत्त्व देने लगा है। संयुक्त राष्ट्र महासंघका निर्माण इसीका परिणाम है। आज प्रत्येक समझदार व्यक्ति यह भी सोचता है कि उपर्युक्त सभी संगठन बदस्तूर बने रहें, इसलिये उसे हमेशा इस बातकी चिन्ता बनी रहती है कि किसी भी संगठनमें किसी भी प्रकार कहींसे दरार न पड़ जावे।

किसी भी संगठनमें दरार व्यक्तियोंके, कुटुम्बोंके, नगरोंके और राष्ट्रोंके पारस्परिक संघर्षोंसे पड़ती है और ये संघर्ष तब पैदा होते हैं जब एकके स्वार्थ दूसरेसे टकरा जाते हैं। स्वार्थोंकी इस टकराहटमें एक व्यक्ति, एक कुटुम्ब, एक नगर और एक राष्ट्र; दूसरे व्यक्ति, दूसरे कुटुम्ब, दूसरे नगर और दूसरे राष्ट्रपर आई हुई विपत्तिके मेटनेमें समर्थ होते हुए भी उदासीनतापूर्वक उसकी तरफसे मुख मोड़ लेता है। इतना ही नहीं, बल्कि इससे भी आगे स्वार्थोंकी इस टकराहटमें व्यक्ति व्यक्तिके साथ, कुटुम्ब कुटुम्बके साथ, नगर नगरके साथ और राष्ट्र राष्ट्रके साथ सहिष्णुतारहित, अपमानपूर्ण और अविश्वसनीय व्यवहारतक करनेपर उतारू हो जाता है। इस तरह एक व्यक्तिका दूसरे व्यक्तिके साथ, एक कुटुम्बका दूसरे कुटुम्बके साथ, एक नगरका दूसरे नगरके साथ और एक राष्ट्रका दूसरे राष्ट्रके साथ संघर्ष होने लगता है।

इस संघर्षको समाप्त करने तथा उक्त संगठनोंको सुदृढ़ बनानेके लिये जैन संस्कृतिमें यह उपदेश मिलता है कि जो व्यक्ति या जो कुटुम्ब, अथवा जो नगर या जो राष्ट्र, सुखी रहकर जिन्दा रहना चाहता है उसे "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" अर्थात् "जो प्रवृत्ति अपने लिये प्रतिकूल हो उसका आचरण दूसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिये" इस सिद्धान्तके अनुसार दूसरे व्यक्तियों, दूसरे कुटुम्बों, दूसरे नगरों और दूसरे राष्ट्रोंके साथ असहिष्णुता समाप्त कर सहिष्णुताका वर्ताव करना चाहिये, यानी कि क्षमाधर्म अपनाना चाहिये। उनके जीवनको अपने जीवनसे हीन न समझकर उनके जीवन-अधिकारोंकी अपने साथ समानता स्वीकार करना चाहिये यानी मार्दवधर्म अपनाना चाहिये। उनके साथ स्वप्नमें भी अविश्वसनीय वर्ताव एवं धोखा-धड़ी करनेकी कल्पना न करते हुए सतत प्रामाणिक व्यवहार ही करना चाहिये यानी आर्जवधर्म अपनाना चाहिये और उनके ऊपर आयी हुई विपत्तियोंकी उपेक्षा न करते हुए उन्हें आवश्यकतानुसार यथा-शक्ति निःस्वार्थ सहायता भी देना चाहिये यानी सत्यधर्मको भी स्वीकार करना चाहिये। ये चारों ही धर्म जैन संस्कृति में अहिंसाकी प्रकृतिके रूपमें स्वीकार किये गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप तत्त्वदृष्टिसे विचार करें तो मालूम होगा कि आज प्रत्येक व्यक्तिने, प्रत्येक कुटुम्बने, प्रत्येक नगरने और प्रत्येक राष्ट्रने उक्त प्रकारके क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्यरूप अहिंसा धर्मको अपनी नासमझीके कारण अपने जीवनसे उपेक्षित कर रखा है, सर्वत्र इनके विरुद्ध असहिष्णुता, असमानता, अप्रामाणिकता और असहयोगरूप विविध प्रकारकी दूषित प्रवृत्तियोंके रूपमें हिंसाका ही प्रसार किया है। स्वयं जैन समाज हो अपनी संस्कृतिके आधारभूत उक्त उपदेशोंको भूल चुका है। इतना ही नहीं जैन संस्कृतिके रहस्यके ज्ञाता और प्रवक्ता हम जैसे विद्वानोंकी जीवन-प्रवृत्तियोंमें भी उक्त प्रकारकी हिंसाका रूप ही देखनेमें आ रहा है तथा अहिंसाधर्मके उल्लिखित रूपोंका दर्शन दुर्लभ हो रहा है। कहना चाहिये कि जैन संस्कृतिका प्रकाश तो अब लुप्त ही हो चुका है, केवल नाममात्र ही जैन संस्कृतिका शेष रह गया है।

सर्वत्र जैन और जैनेतर सभी वर्गोंके लोगोंकी जीवन-प्रवृत्तियां जो इतनी कलुषित हो रही हैं उसका कारण यह है कि प्रायः सभी लोग भोग और संग्रह इन दो पापोंके वशीभूत हो रहे हैं। यदि आप गहराईके साथ सोचनेका प्रयत्न करेंगे तो आपको मालूम हो जायगा कि इनकी पूर्तिके लिये ही लोग हिंसामें प्रवृत्त होते हैं, चोरी करते हैं तथा विविध प्रकारके असत्याचरण भी करते हैं। यह आश्चर्यजनक बात है कि भोग और संग्रहकी वशीभूतताके कारण लोगोंका विवेक भी समाप्त हो गया है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि पाप होते हुए भी उन्होंने पुण्यका ठाठ मान लिया है, भले ही उस भोग और संग्रहके लिये उन्हें हिंसाका मार्ग अपनाना पड़ा हो, चोरी करनी पड़ी हो या असत्याचरण करना पड़ा हो। जैन संस्कृतिमें भोग और संग्रहको ही मुख्य पाप बतलाया गया है "लोभ पापका बाप बखाना" का पाठ जैनके बच्चेको भी भली भाँति याद है।

यद्यपि यहांपर प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि भोजन, वस्त्र और आवास आदिका उपयोग मानव-जीवनके लिये अत्यन्त उपयोगी है तथा इन भोजनादिकी प्राप्तिके लिये धनादि वस्तुओंका संग्रह भी मानव-जीवनके लिये उपयोगी है। अतः भोग तथा संग्रहको पाप मानना कैसे उचित कहा जा सकता है? इस प्रश्नका समाधान यह है कि जहाँतक और जिस प्रकारसे भोजनादि हमारे जीवनके लिये उपयोगी सिद्ध होते हैं वहांतक उनको उपभोग करनेका हमें अधिकार है और वहाँतक उनका उपभोग हमारे लिये पाप भी नहीं है। इसी प्रकार जीवनोपयोगी भोजनादि सामग्रीकी प्राप्तिके लिये यदि हम धनादिका संग्रह करते हैं तो वहाँ तक हमें धनादिकके संग्रह करनेका अधिकार है और वहाँतक यह भी पाप नहीं है, परन्तु हम भोजनादिकका उपभोग तथा धनादिकका संग्रह जीवनके लिये उपयोगी समझकर करते कहाँ हैं? हम तो अपने इस अधिकारके बाहर भोजनादिके उपभोग और धनादिके संग्रहकी बात सोचने लगे हैं। जैसे यदि भोजनका उपभोग हम अपनी भूख मिटानेके लिये करते हैं और वस्त्रका उपभोग शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये करते हैं तो ऐसा करना हमारा अधिकार है और यह पाप नहीं है, लेकिन यदि हमारा मन भोजनके स्वादमें रम जाय या वस्त्रकी किनार, डिजायन, रंग अथवा पोतपर हमारा मन ललचा जाय तो हमारा भोजन या वस्त्रका वह उपभोग पापमें गर्भित हो जायगा। इसी प्रकार धनके संग्रहमें जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति तक ही यदि हमारा लक्ष्य सीमित रहता है तो ऐसा धन संग्रह करना हमारा अधिकार है, पाप नहीं है। लेकिन यदि अमीर बननेके लिये हम धन संग्रह करनेका प्रयत्न करने लगते हैं तो हमारा वह धन संग्रह पापमें गर्भित हो जायेगा।

जैन संस्कृतिके इस सूक्ष्मतम तत्त्वज्ञानको समझकर हम विद्वानोंको अपने जीवनमें उतारना तथा पथभ्रष्ट जैन समाजको सही मार्गपर लाकर पतनोन्मुख जैनसंस्कृतिका संरक्षण करना है और मानवमात्रको इस तत्त्वज्ञानको शिक्षा देकर संपूर्ण विश्वमें जैनसंस्कृतिका प्रसार भी करना है। इसलिये इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कोई योजनाबद्ध प्रचारात्मक ढंग हमें निकालनेका प्रयत्न करना चाहिये। जैनसंस्कृतिके संरक्षण और विस्तारके लिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और विश्वमें शान्ति तथा सुखका साम्राज्य स्थापित करनेके लिये हमारा यह सबसे बड़ा कार्यक्रम होगा।

द्वितीय समस्या : तत्त्वचर्चा द्वारा गुत्थियाँ सुलझायें

दि० जैनसमाजमें जैनसंस्कृतिके अध्येता, अध्यापयिता और व्याख्याता विद्वान विद्यमान हैं। परन्तु प्रायः देखनेमें आ रहा है कि संस्कृतिके तत्त्वज्ञान और आचार संबन्धी बड़ी-से-बड़ी और छोटी-से-छोटी ऐसी बहुतसी-गुत्थियाँ हैं जो विद्वानोंके पारस्परिक विवादका स्थल बनी हुई हैं। इनके अतिरिक्त सैकड़ों ही नहीं, हजारों सांस्कृतिक गुत्थियां आगमग्रन्थोंमें ऐसी विद्यमान हैं जिनके ऊपर अभी विद्वानोंका लक्ष्य ही नहीं पहुँच पाया है। लेकिन उनका सुलझ जाना सांस्कृतिक दृष्टिसे और मानवकल्याणकी दृष्टिसे बड़ा उपयोगी हो सकता है।

यदि विद्वानोंकी समझमें यह बात आ जाय कि साँस्कृतिक गुत्थियोंको सुलझाना हमारा परम कर्त्तव्य है और यह भी समझमें आ जाय कि सब विद्वान एक स्थानपर एक साथ बैठकर सद्भावनापूर्ण विचार-विमर्श द्वारा ही सरलतापूर्वक इस कार्यको सम्पन्न कर सकते हैं तो फिर मेरा सुझाव है कि हम अपने कार्यक्रमकी एक ऐसी स्थायी योजना बनावें, जिसके आधारपर वर्षमें कम-से-कम एक बार प्रायः सभी विद्वान एक स्थलपर बैठें तथा संस्कृतिके गूढ़तम रहस्योंकी खोज करें और विवादग्रस्त विषयोंको भी सुलझानेका प्रयत्न करें। गत वर्ष सांस्कृतिक रहस्योंकी खोजके लिये जयपुर-खानियामें विद्वानों द्वारा की गयी सद्भावनापूर्ण तत्त्वचर्चाने यह सिद्ध कर दिया है कि परस्पर-विरुद्ध विचारधारा वाले विद्वान भी एक स्थानपर एक साथ बैठकर सद्भावनापूर्ण ढंगसे तात्त्विक गुत्थियोंको सुलझानेका प्रयत्न कर सकते हैं। वास्तवमें जयपुर-खनियामें जो तत्त्वचर्चा हुई उसका ढङ्ग आदर्शात्मक रहा और उससे जो सामग्री प्रकाशमें आनेवाली है वह जैन-संस्कृतिके लिये ऐतिहासिक महत्त्वकी होगी। इसलिये तत्त्वचर्चाओंकी इस परम्पराको इसी ढङ्गसे आगे चालू रखनेका हमें ध्यान रखना ही चाहिये।

उल्लिखित प्रकारकी तत्त्वचर्चाओंका महत्त्व इसलिये और है कि पुरातन सांस्कृतिक विद्वान हमारे बीचमेंसे धीरे-धीरे कालकवलित होते जा रहे हैं और आगे सांस्कृतिक विद्वान तैयार होनेके आसार ही दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। ऐसी हालतमें यदि मौजूदा विद्वान अपने बीच उत्पन्न संस्कृति-सम्बन्धी विवाद नहीं सुलझा सके, तो जैन समाजकी भावी पीढ़ीके समक्ष हम अपराधी सिद्ध होंगे तथा जैन संस्कृतिके बहुतसे मानवकल्याणकारी गूढ़तम रहस्य हमेशाके लिये गुप्त ही बने रहेंगे।

जैन संस्कृतिका तत्त्वज्ञान तथा आचार-पद्धति सर्वज्ञताके आधारपर स्थापित होनेके कारण विज्ञान-समर्थित हैं। षट्द्रव्यों और सप्ततत्त्वोंकी अपने-अपने ढङ्गसे व्यवस्था, आत्मामें संसार और मुक्तिकी व्यवस्था, संसारके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग तथा मुक्तिके कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, उन्नति और अवनतिकी सूचक गुणस्थानव्यवस्था, कर्मसिद्धान्त, अनेकान्तवाद और स्याद्वाद, प्रमाण और नयकी व्यवस्था, निश्चय और व्यवहार नयोंका विश्लेषण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय, नैगम आदि नयोंकी स्थापनाका आधार तथा इनमें अर्थनय और शब्द नयोंकी कल्पना आदि-आदि जैन संस्कृतिका तत्त्व-ज्ञानसे सम्बन्ध-विवेचन वैज्ञानिक और दूसरी संस्कृतियोंकी तुलनामें सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार जैन संस्कृतिकी आचार-पद्धतिकी व्यवस्थाएँ भी समझदार लोगोंके गले उतरने वाली हैं। हाथसे कूटे गये और मिलोंसे साफ किये गये चावलमें, हाथ-चक्कीसे और मशीन-चक्कीसे पीसे गये आटेमें पोषक तत्त्वोंकी हीनाधिकताके कारण उपादेयता और अनुपादेयताका प्रचार महात्मा गांधीने भी किया था। इसी प्रकार रात्रिभोजन-त्याग तथा पानी छानकर पीनेकी व्यवस्था, आटे आदिका कालिक मर्यादाके भीतर ही उपयोग करनेका उपदेश आदि जितना भी आचार-पद्धतिसे सम्बन्ध रखने वाला जैन संस्कृतिका विषय है वह भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानवजीवनके लिये कितना हितकर है, इसे आज प्रत्येक व्यक्ति सरलतासे समझ सकता है। हमें इन सब-बातोंको प्रकाशमें और प्रचारमें लाना है, इसलिये इसे भी हमें अपने कार्यक्रमका अंग बनाना चाहिये।

उल्लिखित सम्पूर्ण कार्योंको सम्पन्न करनेके लिये एक उपाय यह भी हो सकता है कि विद्वत्परिषद्का अपना एक सांस्कृतिक पत्र हो, जिसके माध्यमसे विद्वान जैनसंस्कृतिके गूढ़तम रहस्योंको प्रकाशमें लायें, परस्परके तात्त्विक विवादोंको सुलझाएँ और आचार-पद्धतिकी वैज्ञानिक ढङ्गसे जनताके लिये उपयोगिता समझाएँ। अभी जैन समाजमें जितने पत्र निकलते हैं उनकी पद्धति प्रायः स्वार्थपूर्ण और संघर्षात्मक है। मैं नहीं समझता हूँ कि उनके द्वारा जनताका या संकृतिका कुछ भला हो रहा है, वे तो केवल व्यक्तिगत कषाय-पुष्टिके ही साधन हो रहे हैं, इसलिये हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि विद्वत्परिषद्का पत्र मौजूदा पत्रोंमें दिखाई देनेवाली बुराइयोंसे परे हो।

तृतीय समस्या : विद्वानोंका संगठन और उनकी कठिनाइयाँ

कलकत्तेमें वीरशासन महोत्सवके अवसरपर जब विद्वत्परिषद्की स्थापना हुई थी उस समय वहाँ नरम और गरम, सुधारक और स्थितिपालक आदि परस्परविरोधी विचारधाराओं वाले बहुतसे सांस्कृतिक विद्वान उपस्थित थे। उक्त अवसरपर अकस्मात् एक ऐसी घटना घट गयी थी, जिससे प्रभावित होकर उपस्थित सभी सांस्कृतिक विद्वानोंने अपना संगठन बनानेका दृढ़ संकल्प किया था और उसी संकल्पके बलपर उन्होंने अपनी पारस्परिक विचार-भिन्नताको गौण करके तत्काल इस विद्वत्परिरद्की स्थापना कर डाली थी। यह विद्वत्परिषद् आज भी उसी आधारपर चल रही है यानी इसमें आज भी पारस्परिक विचारभेद रखने वाले विद्वान सम्मिलित हैं, उन्हें इससे ममता है और इसके कार्योंमें बराबर हाथ बटा रहे हैं।

इतना होते हुए भी जब तक हम सब मिलकर सामूहिक ढङ्गसे सर्व-साधारण विद्वानोंकी कठिनाइयों-पर गौर नहीं करेंगे तब तक हमारा यह संगठन सुदृढ़ नहीं रह सकता है। विद्वत्परिषद्की स्थापनाके अवसर-पर मुख्यरूपसे इस बातपर बल दिया गया था कि विद्वानोंकी कठिनाइयोंको समझा जाय और उनके निराकरण करनेके सुन्दरतम उपाय भी खोज निकाले जावें।

यद्यपि विद्वत्परिषद्ने इस ओर ध्यान अवश्य दिया है परन्तु अभी तक इसमें वह पूर्णरूपसे सफल नहीं हो पायी है। विद्वानोंके सामने विद्वत्परिषद्की स्थापनाके समय जिस रूपमें कठिनाइयाँ विद्यमान थीं, इस समय उनका रूप कई गुणा अधिक हो गया है, इसलिये हमें विद्वानोंकी कठिनाइयोंके निराकरण करनेकी और पुनः ध्यान देना है, अतः इसके लिये कैसी योजना उचित हो सकती है, इसपर विचार करें।

चतुर्थ समस्या : विद्वत्परिषद् और शास्त्रीपरिषद्का एकीकरण

दिगम्बर जैन समाजमें सांस्कृतिक विद्वान तो हैं, परन्तु उनकी संख्या विशेष अधिक नहीं कही जा सकती है फिर भी विद्वानोंके नामपर विद्वत्परिषद् और शास्त्रिपरिषद् दो संस्थायें वर्तमानमें कार्य कर रही हैं। मेरा अपना ख्याल है कि यदि दोनों संस्थाओंका एकीकरण हो जाय तो मिली हुई कार्यशक्तिसे कार्य भी अधिक और उत्तम हो सकता है। एक बात और है कि अलगावसे पारस्परिक संघर्षको भी प्रोत्साहन मिलता है। यदि मेरा इन दोनोंके एकीकरणका सुझाव आपको मान्य हो, तो एकीकरणकी क्या भूमिका हो सकती है ? इसपर भी आपको विचार करना चाहिये।

पंचम समस्या : सांस्कृतिक ज्ञानकी सुरक्षा

अभी भी दिगम्बर जैन समाजके अन्दर संस्कृतिका अध्ययन कराने और सांस्कृतिक विद्वान तैयार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करनेके लिये बड़े-बड़े विद्यालय मौजूद हैं, समाजका आर्थिक सहयोग भी उन्हें मिल रहा है, बहुतसे विश्व-विद्यालयोंकी परीक्षाओंमें जैन संस्कृतिका कोर्स रख दिया गया है और पठन-पाठनके लिये अध्यापकोंकी नियुक्तियाँ भी कर दी गयी हैं। परन्तु शिक्षण लेने वालोंकी अत्यधिक कमी दृष्टिगोचर हो रही है। इसका मूल कारण यह है कि सभी प्रकारकी शिक्षाका उद्देश्य आज नौकरी करना हो गया है और नौकरीमें भी अधिक-से-अधिक अर्थलाभकी दृष्टि बन चुकी है, जिसकी पूर्तिकी आशा सांस्कृतिक शिक्षासे कभी नहीं की जा सकती है। इस तरह सांस्कृतिक शिक्षण लेनेवालोंकी कमी हो जानेके कारण भविष्यमें सांस्कृतिक ज्ञानके लुप्त हो जानेकी आशंका होने लगी है।

यद्यपि यह प्रसन्नताकी बात है कि हमारे विद्यालयोंने भविष्यमें सांस्कृतिक ज्ञानकी सुरक्षाकी दृष्टिसे अपनी शिक्षणपद्धतिमें कुछ सुधार किये हैं तथा उनका लाभ इन विद्यालयोंमें पढ़ने वालोंको मिला भी है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि ऐसे विद्वान सामाजिक क्षेत्रसे बाहर अच्छे क्षेत्रोमें कार्य कर रहे हैं। परन्तु साथमें इसका यह भी परिणाम हुआ है कि ऐसे बहुतसे विद्वानोंका सामाजिक और सांस्कृतिक कार्योंसे प्रायः सम्पर्क समाप्त हो चुका है। विद्वत्परिषद्का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे विद्वानोंसे सम्पर्क स्थापित करे और उनके अन्दर सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्योंके प्रति रुचि जागृत करे। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक ज्ञानकी भावी सुरक्षाकी दृष्टिसे कुछ ठोस उपाय भी आपको सोचना है।

इस विषयमें मेरा सुझाव है कि त्यागमार्गकी ओर बढ़ने वाले व्यक्तियोंमेंसे बुद्धिमान् व्यक्तियोंको चुनकर उनमें सांस्कृतिक तत्त्वज्ञानके अध्ययनकी रुचि जागृत की जावे तथा उनको विद्यालयोंमें छात्रके रूपमें रहनेकी उचित सुविधा दिलायी जावे। यदि इस परम्पराके चलानेमें विद्वत्परिषद् सफल हो जाती है तो सांस्कृतिक ज्ञानकी भावी सुरक्षाका प्रश्न सुदूर भविष्य तकके लिये हल हो सकता है।

एक जिस बातके ऊपर विद्वत्परिषद्का ध्यान जाना जरूरी है वह यह है कि सांस्कृतिक अध्ययन-अध्यापनको जो पद्धति अभी चल रही है उससे छात्रोंको ग्रंथोंका अभ्यास तो हो जाता है परन्तु विषयके समझनेमें वे अन्त तक कमजोर रहा करते हैं। पढ़नेमें भी उन्हें अधिक श्रम करना पड़ता है अतः सांस्कृतिक पठन-पाठनके विषयमें वैज्ञानिक पद्धति निकालनेकी योजना बनानेकी ओर भी हमारा लक्ष्य जाना चाहिये। इससे पढ़ने वाले छात्रोंको विषय सरलताके साथ समझमें आने लगेगा। साथ ही उनके श्रममें भी कमी आ जायगी। इसका एक परिणाम यह भी होगा कि अभी जो सांस्कृतिक अध्ययन करने वाले छात्र अरुचि-पूर्वक सांस्कृतिक अध्ययन करते हैं यह बात न रहकर वे रुचिपूर्वक अध्ययन करने लगेंगे।

एक बात यह भी प्रसन्नता की है कि हमारे सांस्कृतिक विद्वान जैन संस्कृतिके साहित्यके विषयमें ऐति-हासिक दृष्टिसे बहुत कुछ सोचने और लिखने लगे हैं। इसका प्रत्यक्ष लाभ यह हुआ है कि जैनेतर विद्वानोंकी रुचि जैन संस्कृतिके साहित्यका अध्ययन करनेकी ओर उत्पन्न हुई है, जैन संस्कृतिके प्रसारकी दृष्टिसे यह उत्तम बात है। इसके साथ ही हमें अपने प्राचीनतम साहित्यके आधारपर लोकभाषा हिन्दी आदि भाषाओंमें भी सांस्कृतिक मौलिक साहित्यका निर्माण करना चाहिये। हमारे पुरातन महर्षियोंने जैन संस्कृतिके साहित्य-निर्माणमें जिस प्रकार तत्कालीन लोकभाषाओंका समादर किया था, ठीक उसी प्रकार आज हमें भी करना चाहिये। यद्यपि हमारे बहुतसे विद्वानोंने पुरातन साहित्यका हिन्दी आदि भाषाओंमें अनुवाद किया है और कर रहे हैं परन्तु इतनेसे ही हमें संतोष नहीं कर लेना चाहिये।

मैंने जिन बातोंका ऊपर संकेत किया है वे सब बातें विद्वत्परिषद्के उद्देश्यसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं और इसके कर्त्तव्यक्षेत्रमें आती हैं। इनके अतिरिक्त आपके मस्तिष्कमें भी बहुत-सी बातें होंगी उन्हें आप भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँपर रखेंगे । मैं चाहता हूँ कि इन सब बातोंपर यहाँ गम्भीर मंथन किया जाय और उनके विषयमें यथाशक्ति कार्यक्रम निर्धारित किया जाय । कार्यक्रम भले ही छोटा हो परन्तु ठोस होना चाहिये ।

उपसंहार

विद्वत्परिषद्का यह अधिवेशन सिवनी जैसी सांस्कृतिक नगरीमें हो रहा है । यह नगरी जैन समाजकी दृष्टिसे काफी महत्त्वपूर्ण रही है और आज भी इसका वही महत्त्व है । यहाँ जैन संस्कृतिके अच्छे ज्ञाता और अनुभवी व्यक्ति रहे हैं और आज भी हैं । यहाँके बड़े-बड़े गगनचुम्बी जैन मंदिर मध्यप्रदेशके ख्यातिप्राप्त मन्दिरोंमें हैं । इस समय मंगलमय पंचकल्याणकजिनबिम्ब प्रतिष्ठा भी यहाँपर हो रही है । सभी तरहकी सुन्दर और आरामदेह व्यवस्था यहाँकी समाजने बाहरसे आये हुए जनसमूहके लिये की है और स्वागत समितिने हमारा स्वागत और आतिथ्य करनेमें कोई कमी नहीं रहने दी है ।

इसके पूर्व विद्वत्परिषद्के जितने अधिवेशन हुए हैं उन सबमें प्रातःस्मरणीय पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजकी प्रत्यक्ष या परोक्ष छत्र-छाया हमें प्राप्त होती रही है । परन्तु दुःख है कि यह दशम अधिवेशन उनकी छत्रछायाके बिना सम्पन्न हो रहा है । पूज्य वर्णीजीके हृदयमें प्रत्येक विद्वान्के अभ्युत्थानकी उदात्त भावना थी । उन्होंने जैन समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नतिमें जो कार्य किया है उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता । उनके द्वारा प्रचारित जिनवाणीके अध्ययन-अध्यापनको हमें निरन्तर जारी रखना है । अच्छा हो कि उनकी स्मृतिमें जगह-जगह 'वर्णी स्वाध्याय-शालाएँ' स्थापित की जावें और उनके माध्यमसे हमारे विद्वान् समाजमें सम्यग्ज्ञानका प्रचार करें ।

अपना भाषण समाप्त करते हुए विद्वत्परिषदके माननीय सदस्यों, सिवनीकी जैन समाज और सभी उपस्थित जनसमुदायसे प्रार्थना है कि अज्ञान और कार्यशक्तिकी अल्पताके कारण जो त्रुटियों रही हों, आप सब उनपर ध्यान न देंगे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org